वीर संवत् २४९२, माघ शुक्ल १, शनिवार
दि. २२-१-१९६६, श्लोक १ से ३, प्रवचन नं. ५

यह 'दौलतरामजी' कृत 'छहढाला' है। इसकी पहली ढाल पूर्ण हूई। (अब), दूसरी ढाल। ढाल को चाल भी कहा जाता है और ढाल अर्थात् मिथ्यादर्शन आदि से आत्मा के स्वभाव की रक्षा करने की आड़ में छहढाला कहा जाती है। पहली ढाल में चार गति के दुःखो का वर्णन किया। वह दुःख क्यों भोगा ? - ऐसा कहते हैं।

'**संसार (चतुर्गति में) परिभ्रमण का कारण।**' अर्थात् चार गति है - ऐसा फिर सिद्ध किया। पहले बात आ गयी है। निगोद, वहाँ से निकलकर तिर्यंच हुआ, वहाँ से नरक में गया, वहाँ से मनुष्य हुआ, देव हुआ - इसने मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र से ऐसे अनन्त अवतार किये हैं। स्वर्ग के भव भी अनन्त किये हैं। पाप किये तो नरक-निगोदादि में गया, पुण्यादि किये हों तो मनुष्य और स्वर्ग में (गया)। इस प्रकार अनन्त काल से चार गतियों में (भटकता है।) इसलिए मिथ्यादर्शन शब्द लिया है। देखो !

ऐसे मिथ्यादृग-ज्ञान-चर्णवश, भ्रमत भरत दुख जन्म-मर्ण;
तातैं इनको तजिये सुजान, सुन तिन संक्षेप कहूँ बखान।।१।।

'**(यह जीव) (मिथ्यादृग-ज्ञान-चर्णवश) मिथ्यादर्शन- मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र के वश...**' इसका स्पष्टीकरण करेंगे। '**ऐसे-**' यहाँ वजन है। पूर्व में कहा ता न कि अनन्त कालनिगोद में रहा, एक श्वास में अठारह भव किये। कितने ? अठारह, अठारह भव एक श्वास में ! ऐसे-ऐसे अनन्तकाल निगोद में रहा। भगवान परमेश्वर सर्वज्ञदेव तीर्थंकर ने देखा कि इस मिथ्याश्रद्धा और ज्ञान के ज़ोर से यह निगोद में भी इनके कारण रहा, भाई ! कर्म के कारण नहीं - ऐसा यहाँ सिद्ध करना है, देखो !

'**ऐसे मिथ्यादृग-ज्ञान-चर्णवश, भ्रमत मरत दुख जन्म-मर्ण।**' उस निगोद में अनन्तकाल रहा। एक शरीर में अनन्त जीव हैं, वे भी अपनी मिथ्याश्रद्धा-ज्ञान-चारित्र के कारण रहे हैं। कहो, ठीक है ? इसमें से निकलता है। निकलता है न ? '**ऐसे**' यह शब्द कहकर, पूर्व में पहली ढाल में जो चार गति के दुःखो का वर्णन किया है - उसका कारण बतलाते हैं। देखो ! ऐसा कहा है न ? '**संसार (चतुर्गति में) परिभ्रमण की कारण।**' यह कारण है। कर्म कारण नहीं है; कर्म तो जड़, मिट्टी-धूल है। वे यह जड़ मिट्टी तत्त्व है, अजीवतत्त्व है। इसे चार गतियों में भटकने का कारण मिथ्याश्रद्धा, मिथ्याज्ञान और मिथ्याराग-द्वेष परिणाम (है।) इनके कारण यह जन्म-मरण के दुःख सहन किये हैं। कहो, भाषा कैसी सरस की है ! देखो न ! है ? अन्य (लोग) कहते हैं - कर्म के कारण (परिभ्रमण किया है।) कर्म तो जड़ है, मिट्टी-धूल है; तू भाव करे, तदनुसार कर्म बँधते हैं। तेरे भाव के कारण चारगतियों में भटका है। कहो, ठीक है ? भाई ! या कर्म के कारण ?

मुमुक्षु :- नहीं, नहीं; प्रभु !

पूज्य गुरुदेवश्री :- नहीं ? यह क्या कहते हैं ? '**ऐसे मिथ्यादृग-ज्ञान-चर्णवश भ्रमत, मरत दुःख जन्म-मर्ण।**' यह '**वश**' ऐसे डाल देना चाहिए। छपने में भूल पड़ गयी है। चर्ण ऐसे चाहिए वश ऐसे चाहिए। '**वश भ्रमत मरत दुःख जन्म-मर्ण।**' ऐसे चाहिए। चरण है और सामने '**मरण**' चाहिए। समझ में आया ?

अनादि से एकेन्द्रि, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चौइन्द्रिय, पंचेन्द्रिय (हुआ।) मनुष्य के भव ऊपराऊपर करे तो आठ करे, ऐसे अनन्त भव किये। स्वर्ग के भी ... महा दया, दान, व्रत, भक्ति - ऐसे पुण्य किया, (उसके कारण) स्वर्ग में भी अनन्त भव किये; परन्तु मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान-मिथ्याचारित्र क्या है ? - उसका ज्ञान इसने नहीं किया। इस मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान और मिथ्या राग-द्वेष के कारण अनन्त काल से ऐसे निगोद से लेकर (देव तक के) भव किये। समझ में आया ?

उनके वश '**इस प्रकार से जन्म और मरण के दुःखो को...**' जन्मना और मरना ऐसे

दुःखो को '**भोगता हुआ...**' जन्म-मरण की व्याख्या संयोग से की है। वस्तुतः तो ऊपर कहा, मिथ्यादर्शन, ज्ञान और विकार - यह दुःख के कारण हैं, ये दुःखरूप है; संयोग दुःखरूप नहीं है। समझ में आया ? प्रतिकूल संयोग, वह दुःख का कारण नहीं है, वह तो मिट्टी-धूल-पर है। इसी तरह अनुकूल संयोग, सुख नहीं है। मूढ़ अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव को उसे अनुकूल होवे तो मुझे ठीक और प्रतिकूल होवे तो अठीक - ऐसा मिथ्याश्रद्धा से मानकर दुःखी हो रहा है। समझ में आया ?

'**जन्म और मरण के दुःखों को भोगता हुआ (चारों गतियों में)...**' देखो ! यह चार गतियाँ इसमें दी है, हैं ! इसमें दी है, चक्र बनाया है न ? देखो ! यह चक्र है इसमें ? भाई ! चार गतियाँ है, देखो ! मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान-मिथ्याचारित्र, इन तीनों के कारण निगोद से लेकर नौंवे ग्रैवेयक, अन्तिम ग्रैवेयक (में) मिथ्यादृष्टि देव होकर प्रत्येक जीव ने अनन्त अवतार किये है। उनमें सब से कम मनुष्य के किये, अनन्त अवश्य परन्तु मनुष्य के थोड़े (किये हैं।), उससे असंख्यगुने नारकी के; अनन्त तो दोनों ही है परन्तु असंख्यगुने नारकी के; उससे असंख्यगुने देव के अभी तक किये है; उससे अनन्त गुने तिर्यंच के किये हैं।

भगवान सर्वज्ञ के ज्ञान में परमेश्वर तीर्थंकरदेवने (जीव) चारगति में कहाँ-कहाँ कितना काल रहा - यह उनके केवलज्ञान में भासित हुआ है, तदनुसार ऐसा अनन्त काल चारो गतियों में रहा परन्तु अनन्त अनन्त में अन्तर है। बहुत काल तो निगोद

और पशु में व्यतीत किया। मिथ्यादर्शन क्या है और सम्यग्दर्शन क्या है ? इसकी इसने कभी पहिचान ही नहीं की है।

'**(चारों गतियों में) भटकता फिरता है; इसलिए इन तीनों को भलीभाँति जानकर...**' देखो ! तीन अर्थात् मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र, इन्हें जानकर, '**छोड़ देना चाहिए।**' जानकर छोड़ेगा न ? जाने बिना क्या छोड़े कि यह मिथ्याश्रद्धा क्या है ? यह स्पष्टीकरण करेंगे, हाँ ! स्वयं करेंगे। '**(इसलिए) इन तीनों का संक्षेप से (कहूँ बरवान)...**' मैं वर्णन करता हूँ। तीनों का संक्षेप में वर्णन करंगे। भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर ने तो शास्त्र में बहुत कहा है।सन्तों ने, मुनियों ने परम्परा में बहुत (कहा है) परन्तु मैं इस बात को संक्षेप में कहूँगा; इस प्रकार ग्रन्थकर्ता 'दौलतरामजी' कहते हैं। '**सुनो !**' इस शब्द का वजन है। है न ? '**सुन...सुन...**' सुनो ! कहते हैं कि मिथ्यादर्शन - विपरित मान्यता, विपरित ज्ञान और विपरित राग-द्वेष से चारगति में कैसे भटका है ? यह बात सुनो। सुनाते हैं।

'**भावार्थ :- इस चरण से ऐसा समझना चाहिए कि मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र से ही जीव को दुःख होता है...**' देखो ! इनसे दुःख होता है। इनसे परिभ्रमण किया और इनसे दुःख होता है - दो बातें लेना है। क्या कहा ? मिथ्याश्रद्धा-ज्ञान-चारित्र से परिभ्रमण किया और इनसे दुःख होता है, (इस प्रकार) दो बातें लेना। '**शुभाशुभ रागादि विकार...**' देखो ! '**शुभाशुभ रागादि विकार तथा पर के साथ एकत्व होता है...**' लो ! दुःखी होने का कारण - एक तो शुभ-अशुभ पुण्य-पाप का भाव, वह विकार है। वह मेरा मानता है - यही मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान है। आहा...हा...! समझ में आया ?

मुमुक्षु :- परिभ्रमण का दुःख है ?

उत्तर :- यह भटकता है, इससे और दुःख भी यही है, ऐसा। यहाँ तो परिभ्रमण का कारण सिद्ध किया है न ? फिर तो अर्थ में ज़रा दुःख कहा। उन जन्म-मरण के दुःख से (अधिक) करते यह मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान का दुःख है ऐसा कहा, परन्तु उनके कारण ही भटकता है और वही दुःख का स्वरूप है, ऐसा। समझ में आया ? आहा...हा...!

कहते हैं - शुभ और अशुभ पुण्य-पाप के भाव, वे मेरे हैं - ऐसी जो श्रद्धा, वह मिथ्यादर्शन है। वह शुभ-अशुभ पुण्य-पाप के भाव-दया, दान, व्रत, भक्ति का शुभभाव और हिंसा, झूठ, चोरी का भाव (अशुभभाव) ये दोनों विकार हैं। वह विकार मेरा स्वरूप है, मुझे लाभदायक है अथवा वे मेरे हैं - ऐसी मान्यता को भगवान मिथ्यादर्शन कहते हैं। वह मिथ्यादर्शन और उसे मिथ्याज्ञान कहते हैं, कारण कि उस पर ज्ञान करके आत्मा का ज्ञान छोड़ दिया, उसे ही मिथ्याचारित्र कहते हैं। आहा...हा...! कहो, समझ में आया ?

शुभाशुभभाव अथवा पर के साथ (अर्थात्) देह, मन, वाणी - यह सब तो जड़ मिट्टी है, अजीव है। दो तत्त्व लिये - एक अजीवतत्त्व और (दुसरा) आस्रवतत्त्व। शरीर, वाणी और जड़ कर्म, यह अजीवतत्त्व है तथा पुण्यऔर पाप का भाव, वह आस्रवतत्त्व (है)। नव तत्त्व में जीव, अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष है। उनमें यह शरीर, वाणी, कर्म-मिट्टी, यह तो अजीवतत्त्व है। उसे अपना माना कि इस देह की समस्त क्रिया में करता हूँ, यह वाणी मैं बोलता हूँ, देह से काम चले, वह मुझसे होता है - यह सब अजीव को अपना माना है, यह मिथ्यादर्शन-ज्ञान है। समझ में आया ? नवतत्त्व भित-भित हे; जीव, अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। अतः अजीवतत्त्व तो पृथक्तत्त्व है। इस पृथक् तत्त्व की क्रिया होती है, वह आत्मा से होती है - ऐसा मानने का नाम मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याराग है। आहा...हा...! कहो, इसमें समझ में आता है ? और दूसरा शुभाशुभराग - आस्रव, पुण्य-पाप का भाव (है।) नवतत्त्व है न ? शुभ - दया, दान, व्रत, भक्ति का विकल्प (होवे), वह शुभभाव है, वह पुण्य है; हिंसा, मूढ, वह पाप है - ये दोनों ही आस्रव है, और दोनों में भटकना बन्धभाव है। इस पुण्य, पाप, आस्रव, बन्ध को अपना स्वरूप मानना, (यह मिथ्यादर्शन - मिथ्याज्ञान है।) स्वयं ज्ञानस्वरूप चिदानन्द भगवान आत्मा है, उसे नहीं मानकर इस प्रकार को अपना मानने का नाम मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र है। आहा...हा...! समझ में आया ?

दो को भित-भित न मानकर एक माना; जीव और अजीव को एक माना तथा आस्रवतत्त्व और जीव को एक माना। है भिन्न तत्त्व; वरना नौ किस प्रकार होंगे ? समझ में आया ? भाषा

थोड़ी-थोड़ी समझ में आती है न ? थोड़ी-थोड़ी समझ लेना। आहा...हा...! कहते हैं कि आस्रव और पर अजीव के साथ एकत्व की श्रद्धा, मिथ्यादर्शन शल्य है। आहा...हा...! वह मिथ्याज्ञान है, ऐसे मिथ्या आचरण से, यह चारित्र कहा। इस प्रकार पर को अपना मानना, आस्रव को अपना मानना, देह को अपना (मानना), देह की क्रिया मुझसे होती है - ऐसा मानना, यह वाणी निकलती है - वह भी मैं बोलता हूँ - ऐसा मानना, इसका नाम मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान और मिथ्या आचरण है। इनसे ही '**जीव दुःखी होता है।**' कहो, समझ में आया ?

कर्म परिभ्रमण नहीं कराता और कर्म से दुःखी नहीं होता, दो बात सिद्ध करना है, भाई ! आहा...हा...! कर्म तो जड़ है, अजीवतत्त्व है। अजीवतत्त्व से आत्मा परिभ्रमण करे ? अपनी भूल से भ्रमता है या अजीव से भ्रमता है ? और अजीव से दुःख होता है ? स्वयं विपरीत मान्यता और विपरीत भाव करे तो दुःख होता है। क्या जड़ से आत्मा को दुःख होता है ? समझ में आया ? भाई !

मुमुक्षु :- जी हाँ !

पूज्य गुरुदेवश्री :- हाँ जी, परन्तु धीरे-धीरे आया। यह विपरीत मान्यता है, कहते हैं। यह शरीर में ऐसा हुआ, इसलिए दुःखी हूँ, मूढ़ है - ऐसा यहाँ कहते हैं।

मुमुक्षु :- साक्षात् दुःख दिखता है।

उत्तर :- धूल में भी दुःख नहीं है। मिट्टी में क्या है ? यह मिट्टी है, यह तो अजीव है, जड़ है, चैतन्य के होंशरहित तत्त्व है, अजीव रजकण हैं। अ-जीव (अर्थात्) रंग, गन्ध, रस, स्पर्शवाला। इसमें कुछ दुःख है ? उसमें दुःख है ? अथवा इसमें आनन्द है या आनन्द की विपरीत दुःखदशा हो ? आनन्द तो आत्मा में है। अतीन्द्रिय आनन्द भगवान आत्मस्वरूप, अतीन्द्रिय आनन्द से भरपूर भगवान आत्मा है। आहा...हा...! (जिसे) नवतत्त्व का पता नहीं होता, उसे श्रद्धा-मिथ्यादर्शन कैसे जाए ? भाई ! आहा...हा...!

मुमुक्षु :- नव तत्त्व तो मानता है !

उत्तर :- क्या धूल भी नहीं मानता (नाम भी नहीं आते होंगे; नाम आते हों तो उनके भाव का पता नहीं होता। समझ में आया ?

कहते है - यह मिथ्याश्रद्धा, यह आस्रवतत्त्व अथवा पुण्य-पापतत्त्व अथवा भावबन्ध; भावबन्ध, हाँ ! अटकरूप बिकार को और अजीव - कर्म, शरीर, वाणी, मन; यह पुद्गल, पैसा-धूल आदि पर, यह सब मेरे हैं - ऐसा मानने का नाम मिथ्याश्रद्धा, उसका नाम मिथ्याज्ञान और यह राग-द्वेष और मिथ्या आचरण कहा, उससे जीव परिभ्रमण करता है और उससे ही स्वयं दुःखी होता है। दो बातें लेना। कहो, ठीक होगा इसमें ? भाई !

'**क्योंकि कोई संयोग सुख-दुःख का कारण नहीं हो सकता...**' निर्धनता, शरीर में रोग या स्त्री मर जाना, मकान नहीं होना, विवाह न होना, बाँझपन - यह चीज़ दुःख का कारण नहीं है, यह तो पर संयोगी वस्तुएँ है। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- यह जीव संयोग में तो गुम गया है।

उत्तर :- गुम नहीं गया, मान्यता में गुम गया है, संयोग में नहीं गुमा, मान्यता में गुम गया है। जहाँ ऐसी प्रतिकूलता आती है, वहाँ यह... मुझे हो गया ! तुजे क्या है ? वह तो जड़ में है भाई ! शरीर में रोग (आता है।)

देखो ! यहाँ कहा वह '**संयोग सुख-दुःख का कारण नहीं हो सकता...**' क्योंकि भगवान ने अजीवतत्त्व को आत्मा से भित कहा है। यह आत्मा जीवतत्त्व है और यह सब मिट्टी अजीवतत्त्व है। यह रोग, पैसा, स्त्री, पुत्र, शरीर; शरीर, हाँ ! - यह अजीवतत्त्व, आत्मा को दुःखरूप नहीं होता, (क्योंकि) यह तो जड़-मिट्टी है; दुःख तो विकारभाव है, अतः अजीव कहीं विकारभाव नहीं कराता। स्वयं भूलकर 'मुझे इसमें दुःख है' - ऐसी मिथ्याश्रद्धा खड़ी करके दुःखी होता है। कुछ भान नहीं होता, भान। एक भी तत्त्व का पता नहीं होता। तब क्या उबता जाता है ? सवेरे में ऐसे अन्दर से आकर चिल्लाहट करता है। कहो, समझ में आया इसमें ? आहा...हा...!

देखो न ! एक गाथा में कितना रख दिया है ! यह '**चर्णवश भ्रमत मरत दुःख जन्म-मर्ण**' इसके कारण भ्रमा और मरत दुःख (अर्थात्) इसके कारण जन्म-मरण का दुःख भोगा। इसमें दोनों ही भाषा आ गयी। इसमें आया न ? '**मिथ्यादृग-ज्ञान-चर्णवश भ्रमत...**' और '**मरत दुःख जन्म-मर्ण।**' कितना स्पष्ट किया है ! 'दौलतरामजी' ने एक सादी हिन्दी भाषा में किया

है। लो ! है ? पढ़ा है तुमने ? समझ में आया ?

कहते हैं - संयोग सुख-दुःख का कारण नहीं है। यह धूल-पैसा पाँच-पच्चीस लाख-सुख की कारण नहीं है; यह तो जड़-मिट्टी है। जड़ सुख का कारण होगा ? क्या कहते हैं ? संयोग है, वह तो धूल - अजीवतत्त्व है। अजीवतत्त्व सुख का कारण है ? अजीव में सुख है ? परन्तु 'मुझे सुखरूप होगा' - ऐसी मिथ्यादृष्टि की मान्यता, मिथ्यादर्शन की शल्य को खड़ा करके भ्रम रहा है और दुःखी हो रहा है - ऐसा है। समझ में आया ? अनुकूल निरोग शरीर हो तो अपने की ठीक (रहे !) निरोग अर्थात् क्या ? वह तो शरीर की दशा है, जड़ की -मिट्टी की (दशा है।) संयोग से कोई प्रतिकूलता और संयोग से अनुकूलता है ही नहीं। सातवें नरक का नारकी, जिसे भगवान भंकर नरक कहते हैं, वह जीव भी इतनी प्रतिकूलता में सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है, लो ! संयोग कहाँ रोकता है ? ऐसे सातवें (नरक में पाता है।)

मुमुक्षु :- तो रोकता कौन है ?

उत्तर :- यह विपरीत मान्यता, यह अड़चन (है।) यह क्या कहा ? यह क्या कहते हैं ? इसकी (ऐसी) विपरीत श्रद्धा इसे रोकती है। यह बाहर के साधन मुझे दुःख (रूप) है और यह मुझे सुख(रूप) है। मैं एक ज्ञानस्वरूप हूँ, मैं तो शुद्ध चैतन्यमूर्ति हूँ, उसकी श्रद्धा का भान नहीं और यह मेरा और यह तेरा - इस पर को माना, इसका नाम मिथ्यादर्शन है; फिर त्यागी हुआ हो और भोगी हुआ हो और सामायिक-प्रौषध करके बैठा हो परन्तु यह मान्यता है तो वह मिथ्यादृष्टि जीव है। समझ में आया ? उसे मिथ्यादर्शन है, उसे जरा भी धर्म-बर्म नहीं है। समझ में आया ?

'**ऐसा जानकर सुखार्थी को इन मिथ्याभावों का त्याग करना चाहिए।**' समझ में आया ? '**इनको तजिये**' हे न ? '**तातैं इनको तजिये सुजान...**' सुजान (अर्थात्) भलीभाँति जानकर; बिना जाने किस प्रकार छोड़ेगा ? यह सुख है, यह दुःख है - पर के कारण माना है - यह मिथ्याश्रद्धा है; पर के कारण सुख-दुःख नहीं है। तूने सुख-दुःख की मान्यता करी; इसलिए सुख-दुःख कल्पना है, वस्तु में (सुख-दुःख नहीं है।) भगवान आत्मा तो ज्ञानानन्दस्वरूप है। केवली ने तो ऐसा देखा है कि तेरा आत्मा तो ज्ञान, आनन्द और शान्ति से

भरपूर आत्मा है, उसे भगवान ने आत्मा देखा है। भगवान ने उसे आत्मा कहा और देखा है। अन्दर ज्ञान, आनन्द और शान्ति भरी हुई है, उसका नाम भगवानने आत्मा देखा है। पुण्य-पाप भाव को तो भगवानने आस्रवतत्त्व देखा है; कर्म, शरीर को भगवान ने अजीवतत्त्व देखा है और इस अजीव तथा आस्रव को अपना माने और आत्मा का ज्ञानानन्दस्वरूप है, उसे अपना नहीं माने - यह मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान है। समझ में आया ?

भगवान सर्वज्ञदेव परमात्मा त्रिलोकनाथ परमेश्वर, जिन्हें एक समय में तीन काल-तीन लोक ज्ञात हुए। समझ में आया ? अनन्त काल से परमेश्वर होते आये है या नहीं ? वर्तमान में केवलीरूप से सीमन्धर भगवान विराजमान है (और) लाखों केवली तथा बीस तीर्थंकर (बिराजमान है, उन्होंने) तो तेरे आत्मा को ऐसा देखा है - शुद्ध ज्ञानस्वरूप (देखा है), फिर इसमें (आगे) आयेगा। देखो ! '**विनमूरत चिनमूरत...**' फिर आयेगा। भगवान ने तो यह देखा है कि आत्मा तो ज्ञान, आनन्द और शान्ति की मूर्ति है, अरूपी है। भगवानने तो ऐसा देखा है। वे पुण्य-पाप के भाव उत्पत हो - दया, दान, काम, क्रोध को तो आस्रवतत्त्व देखा है और कर्म, शरीर को भगवानने अजिवतत्त्व देखा है और (यदि) तू अजीव और आस्रव को अपना मानता है तो भगवान की मान्यता से तेरी मान्यता (विपरीत) हो गयी और तेरे तत्त्व से भी तेरी मान्यता खोटी हो गयी। समझ में आया ? '**सुखार्थी को इन मिथ्याभावों का त्याग करना चाहिए। इसलिए मैं यहाँ संक्षेप से उन तीनों का वर्णन करता हूँ।**' लो !

अगृहीत-मिथ्यादर्शन और जीवतत्त्व का लक्षण

जीवादि प्रयोजनभूत तत्त्व, सरधैं तिनमांहि विपर्ययत्व;
चेतनको है उपयोग रूप, विनमूरत चिन्मूरत अनूप।।२।।

अन्वयार्थ :- (जीवादि) जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष (प्रयोजनभूत) प्रयोजनभूत (तत्त्व) तत्त्व है, (तीनमांहि) उनमें (विपर्यत्व) विपरीत (सरधैं) श्रद्धा करना [सौ अगृहीत मिथ्यादर्शन है।] (चेतनको) आत्मा का (रूप)

स्वरूप (उपयोग है) देखना-जानना अथवा दर्शन-ज्ञान है [और वह] (विनमूरत अमूर्तिक) (चिन्मूरत) चैतन्यमय [तथा] (अनूप) उपमारहित है।

भावार्थ :- यथार्थरूप से शुद्धात्मदृष्टि द्वारा जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष, इन सात तत्त्वों की श्रद्धा करनेसे सम्यग्दर्शन होता है। इसलिये इन सात तत्त्वों को जानना आवश्यक है। सातों तत्त्वों का विपरीत श्रद्धान करना उसे अगृहीत मिथ्यादर्शन कहते हैं। जीव ज्ञान-दर्शन उपयोगस्वरूप अर्थात् ज्ञातादृष्टा है। अमूर्तिक, चैतन्यमय तथा उपमा रहित है।।२।।

'**अगृहित मिथ्यात्व...**' अर्थात् अनादि की मिथ्याश्रद्धा। अगृहीत अर्थात् नयी नहीं ग्रहण की हुई। जन्म के बाद कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र मिले और विपरीत श्रद्धा ग्रहण करे, उसे गृहीत मिथ्यात्व कहते हैं, परन्तु अनादि के निगोद से लेकर निसर्ग अर्थात् स्वाभाविक विपरीत मान्यता अनादि से की है, उसे अगृहीत मिथ्यादर्शन कहते हैं। '**अगृहीत मिथ्यादर्शन और जीवतत्त्व का लक्षण।**' इसमें दो व्याख्या करेंगे। अगृहीत समझ में आया ? अनादिकाल से उन पुण्य और पापभावों को अपना माना; ज्ञानानन्दस्वरूप को भूला ऐसी जो मिथ्याश्रद्धा, वह अगृहीत मिथ्यात्व है, नयी ग्रहण नहीं की है। अनादि के निगोद एकेन्द्रिय वे जीव से लेकर स्वर्ग में देव हुआ, अनन्त बार नौवें ग्रैवेयक गया, साधु होकर पंच महाव्रत की क्रिया पालन कर (वहाँ गया) परन्तु इसने अगृहीत मिथ्यात्व का अभाव नहीं किया। वह अगृहीत अर्थात् वह पुण्य और दया, दान, व्रत का विकल्प उत्पन्न होता है, वह विकार है, उसे अपना मानना, अगृहीत मिथ्यादर्शन है। आहा...हा...! समझ में आया ?

प्रश्न :- अनादिकाल का है, इसलिए तो मजबूत है ?

उत्तर :- यह मजबूत तो अगृहीत उपरान्त गृहीत हो, वह मजबूत है। अगृहीत का अर्थ इतना कि अनादि से ग्रहण किया है, नया नहीं। यह मिथ्यादर्शन अनादि का है और जन्मने के बाद कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र की विपरीत मान्यता करने का नाम गृहीत मिथ्यात्व है, उस मिथ्यात्व को

अधिक पुष्ट किया। आयेगा, इसमें सब आयेगा। समझ में आया ? किसी दिन, पढ़ा है कभी ? ऊपर-ऊपर से मान्यताएँ चला रखी हैं। इसने तो पुस्तक छपायी है, कोई गप्प छपाई हो।

अब, अगृहीत मिथ्यादर्शन की व्याख्या करते हैं -

जीवादि प्रयोजनभूत तत्त्व, सरधैं तिनमांहि विपर्ययत्व;
चेतनको है उपयोग रूप, विनमूरत चिन्मूरत अनूप।।२।।

देखो ! वह पहले कहा था न ? वह, आत्मा का...ए...ई... देवानुप्रिया ! कहाँ गया ? ए...ई... क्या कहा था ? पहले इसमें आत्मा का रूप कहा था न ? 'आत्मा का रूप नहीं जाना' - नहीं आया था ? '**कैसे रूप लखे आपनो...**' चौदहवी, चौदहवी (पहली ढाल की चौदहवी गाथा)। '**कैसे रूपलखे आपनो**' - यह रूप अर्थात् आत्मरूप है। देखो ! यहाँ ले लिया, देखो ! '**चेतन को है उपयोगरूप**' है न ? '**बिनमूरत, चिनमूरत, अनूप**' बहुत सरस बात। संक्षिप्त में बहुत अच्छी की है। अब, क्या कहते हैं ?

देखो ! इसका अर्थ - '**(जीवादि)...**' नव तत्त्व है न ? यों संक्षेप में सात कही, '**जीव, अजीव...**' आस्रव में पुण्य-पाप साथ ही आ गये। '**आस्रव, बन्ध, संवर निर्जरा और मोक्ष...**' भगवान ने नव तत्त्व कहे हैं। इस प्रकार भगवान ने छह द्रव्य देखे हैं; छह द्रव्यों के अन्तर्भेद नव तत्त्व कहे। इन नव तत्त्वों का भिन्न भिन्न स्वरूप है। वे कैसे है ? - यह सब व्याख्या अन्दर आयेगी, हाँ !

जीव, उसे कहते हैं चैतन्यरूप को। अजीव उसे कहते है कि शरीर, कर्म, धर्मास्ति आदि को; आस्रव उसे कहते हैं - जीव में होनेवाले शुभ-अशुभ, दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध के भाव को आस्रवतत्त्व कहते हैं; बन्ध उसे कहते हैं, इनमें (रागादि मे) आत्मा का अठकना। चैतन्य मूर्ति ज्ञानान्द, राग में अटका, उसे भावबन्ध कहते हैं। संवर उसे कहते है कि शुभाशुभ विकार रहित आत्मा के चैतन्य के आनन्द का भान और शुद्ध आनन्द के भान में स्थिर हो, तब जो शुभाशुभ परिणाम रुक जाएँ, उसे संवर कहते हैं। समझ में आया ? यह संक्षिप्त व्याख्या ! आगे

सब आयेगा, हाँ !

चैतन्यमूर्ति भगवान ज्ञानानन्दस्वरूप है - ऐसा भान करके आनन्द में, ज्ञान में स्थिर हो, पुण्य-पाप के विकल्प से हटे, उतनी आत्मा की अनाकुल शान्ति उत्पन्न होती है, उसे भगवान, संवर कहते हैं। निर्जरा - पूर्व की शुद्धि से अधिक शुद्धि की शान्ति बढ़े, वीतरागता बढ़े, शुद्ध उपयोग की शुद्धि बढ़े; पुण्य-पाप भाव का उपयोग घटे; शुभाशुभ परिणाम घटे और शुद्ध उपयोग बढ़े उसे भगवान, निर्जरा कहते हैं। समझ में आया ? और मोक्ष-सर्वथा विकाररहित होकर आत्मा की पूर्णानन्द दशा की प्रगट दशा (होवे), उसे भगवान, मोक्ष कहते हैं। लो ! सात (व्याख्या हुई।) सात में आस्रव में पुण्य और पाप दो आ गये।

ये सात तत्त्व अथवा नव तत्त्व प्रयोजनभूत है, मतलब के हैं, स्वयं को इनका ज्ञान उपयोगी है। इन नौ का ज्ञान अपने को उपयोगी है। समझ में आया ? यह स्वयं को काम आवे ऐसा है। यह कहते हैं। समझ में आया ? यह नवतत्त्व मतलब के हैं, अपने उपयोग के हैं, अपने हित के हैं और स्वयं को प्रयोजनभूत भगवान ने सात (तत्त्व) कहे हैं, उन्हें भलीभाँति जानना चाहिए। भगवान जाने, कैसे होंगे ? गाडी भगाता (चलाया) जाता है, भाई ! ये सब पुराने मनुष्य हैं, सामायिक, पौषध और प्रतिक्रमण किया करते हैं, भगाते रहते है गाड़ी ! किसे संवर कहना और किसे आत्मा कहना ? (इसका कुछ पता नहीं हो।)

मुमुक्षु :- संवर नहीं होता ?

उत्तर :- धूल भी संवर नहीं है, वहाँ संवर कहाँ था ? आत्मा, पुण्य-पाप के राग से रहित-भिन्न भासित हुए बिना, आनन्द में स्थिर हुए बिना संवर और सामयिक होगा कहाँ से ? समझ में आया ? है ?

मुमुक्षु :- मतलब के हैं, इसलिए संग्रह कर रखना।

उत्तर :- हाँ, हाँ ज्ञान में सुरक्षित रखना। क्या कहते हैं ? कहो, ज्ञान में इसे सुरक्षित रखना, उपयोग के। पहले कहा न ? नहीं कहा ? लाभदायक है। जीव ज्ञानानन्द स्वरूप है; अजीव शरीर, मन, वाणी, कर्म, जड़ की क्रिया उसकी स्वतन्त्र है। दया, दान, व्रत के परिणाम उत्पत होते हैं, वह शुभ-पुण्य बन्ध और आस्रव है और इन पुण्य-पाप के परिणाम रहित भगवान आत्माका ज्ञान

करके आनन्द में, शुद्धता में पुण्य-पाप से रहित दशा आनन्द में स्थिरता, वह संवर और निर्जरा है। पूर्णानन्द की प्रगट दशा का नाम मोक्ष है। वह आत्मा को संग्रह योग्य है। लो ! उसका ज्ञान; 'सुजान' कहा न ? क्या भाषा कही ? देखो न ! उसमें 'सुजान' कहा था न ! जानने को कहा था। यहाँ कहा कि उसे जानना।विपरीत श्रद्धा, मिथ्यात्व है, सुलटी (सम्यक् श्रद्धा) लाभदायक है। समझ में आया ? बहुत संक्षिप्त में गागर में सागर भर दिया है। - गागर में सागर ! हिन्दी में संक्षिप्त में बहुत भर दिया है।

यह '**(प्रयोजनभूत)**' प्रयोजनभूततत्त्व है। देखो ! पहला यह कि स्वयं क्या तत्त्व है ? - यह जाने बिना स्व में स्थिर कैसे होगा ? अजीवतत्त्व को अजीवरूप से जाने बिना उसमें से लक्ष्य किस प्रकार छोड़ेगा ? समझ में आया ? मोक्ष को जाने बिना, पूर्ण मुक्ति परमानन्द को जाने बिना मोक्ष का प्रयत्न किस प्रकार करेगा ? और प्रयत्न करना, वह तो संवर-निर्जरा है। इन पुण्य-पाप के भाव-आस्रव को जाने बिना, आस्रव को जाने बिना उससे हटना, ऐसा संवर का ज्ञान किस प्रकार होगा ? समझ में आया ? भाई ! यह तुम्हारे यहाँ 'नागनेश' में कहाँ था ? नहीं ? सब उल्टी-उल्टी बातें है, एक-एक बात ! किसी एक भी तत्त्व की - क्या तत्त्व है और उसका क्या स्वभाव है ? कुछ भी भान नहीं है और कहे हम धर्म करते हैं। धूल भी नहीं है। बकवास में जिन्दगी चली जाएगी और चौरासी के अवतार में चला जाएगा।

'**उनमें विपरीत श्रद्धा करना...**' देखो ! ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा, उसे रागवाला, पुण्य-दया, दानवाला मानना, उसका नाम मिथ्यादर्शन है। उस पुण्य-पाप के भाव से आत्मा को लाभ मानना, इसका नाम मिथ्यादर्शन है। यह अजीव की क्रिया - देह-मन-वाणी की होती है, वह मुझसे होती है; यह पर जीव की दया चलती है, वह मैं पाल सकता हूँ - यह मिथ्यादर्शन ! कारण कि अजीवतत्त्व भिन्न है। (पर) जीव और अजीव मुझसे भिन्न है, उनकी दशा मुझसे नहीं होती, फिर भी 'मुझसे होती है' (- ऐसा माने तो) वह मिथ्यादर्शन - अगृहीत मिथ्यादर्शन है। समझ में आया ? तथा संवर और निर्जरा... आत्मा ज्ञानानन्द शुद्धस्वरूप, उसकी अन्तर निर्मलता में ध्यान में एकाकार होना, उसका नाम संवर है। उसे नहीं मानकर, शुभभाव- दया, दान के होते हैं, उन्हें संवर मानना, यह मिथ्यादर्शन। समझ में आया ? और अकेले उपवास करके निर्जरा

मानना, उसका नाम मिथ्यादर्शन। शुद्ध आत्मा का भान होकर अन्दर में - आनन्द में स्थिर हो, अतीन्द्रिय आनन्द का विशेष स्वाद आवे, उसका नाम निर्जरा है। उसे नहीं मानकर, एक उपवास किया, मुझे निर्जरा हुई (- ऐसा माने), उसका नाम मिथ्यादर्शन। ऐ.... देवानुप्रिया ! ये हमारे पुराने लोग हैं। कहो, सेठिया व्यक्ति है और पुराने हैं, वहाँ 'वडाल' के। सब सुना है न ! इन्होंने जिन्दगी में बहुत सुना है, उपाश्रय के अग्रेसर। मरे तब रोवे। अरे...! भगवान, बापा ! भगवान क्या कहते है - उनके तत्त्व का पता नहीं हो तो उसे सच्ची श्रद्धा कहाँ से हुई ? आहा...हा...!

यह विपरीत श्रद्धा, उसे अगृहीत मिथ्यात्व (कहते हैं।) अगृहीत अर्थात् यह मान्यता अनादि की है, नयी नहीं है। कहो, अनादि से चला आया कहो - (सब एकार्थ है।) ओ...हो...! दिगम्बर साधु होकर नौवें ग्रैवेयक गया, हाँ ! नाम मुनि (होकर) हजारों रानियाँ छोड़कर, पंच महाव्रत के परिणाम, दया के ऐसे परिणाम (पालन किये कि) ऊपर से देवलोक के देवी आवे तो भी चलित न हों ऐसे। भान नहीं होता, तत्त्व अन्दर आनन्दकन्द ज्ञानानन्द शुद्ध स्वरूप है और यह दया, दान का विकल्प उठता है, वह आस्रव और पुण्य व विकार है - इन दोनों का भेदज्ञान नहीं था, इससे मिथ्यादर्शन के कारण नौवें ग्रैवेयक में रहा। यह कहा न ? उसके कारण मिथ्यादर्शन-ज्ञान के कारण चार गतियों में भटका है, देवलोक में भी भटका है - ऐसा आया न इसमें ? समझ में आया ?

'**(चेतन को)...**' अब चेतन की व्याख्या करते हैं। पहले सात की व्याख्या लेनी है न ? '**(चेतन को) आत्मा का (रूप)...**' देखो ! ऐ.. देवानुप्रिया ! आत्मा का रूप आया। रूप अर्थात् स्वरूप। भगवान आत्मा अन्दर देह में विराजमान है, चैतन्य प्रभु। उसका स्वरूप कैसा है ? '**देखना - जानना...**' है। उसका स्वरूप तो देखना और जानना है। देह की क्रिया करना या राग करना, यह उसका स्वरूप नहीं है। आहा...हा...! समझ में आया ? जानना-देखना, दर्शन-ज्ञान स्वरूप भगवान आत्मा, दृष्टा-ज्ञाता; चैतन्य प्रतिभास। उसमें दूसरा ज्ञात हो, वह जाननेवाला। राग-द्वेष हों, वह ज्ञात हो, शरीर की क्रिया ज्ञात हो; स्वयं जाननेवाला, करनेवाला नहीं। समझ में आया ? ऐसा भगवान आत्मा, सर्वज्ञ परमेश्वर तीर्थंकरदेव ने देखा कि यह तो ज्ञान और दर्शन का पिण्ड आत्मा है। जैसे, शक्कर का शक्कर और मिठास का दल है; वैसे ही

यह भगवान आत्मा जानना और देखना, उसका दल/ सत्व उसकी सम्पूर्ण शिला है। जानने-देखने के सत्व की शिला आत्मा है। अरूपी भगवान आत्मा है। उसे न मानकर, ऐसा न मानकर उसे पर की क्रिया करनेवाला मानना, उसे पुण्य के - पाप के भाववाला मानना यह चैतन्य की विपरीत मान्यता मिथ्यादर्शन है। समझ में आया ? यह तो अब पुस्तक सामने रखा है, उसका अर्थ होता है। ... में क्या लिखा है ?

'**आत्मा का (रूप) स्वरूप देखना-जानना अथवा दर्शन-ज्ञान है...**' जिसे यहाँ भगवान आत्मा कहते हैं (उसका स्वरूप जानना-देखना है)। बाकी पुण्य-पाप के विकल्प उठते हैं, वह तो आस्रवतत्त्व है। शरीर, वाणी, मन और यह जड़, वह तो अजीवतत्त्व है। ऐसे अजीव को अजीव; आस्रव को आस्रव; जीव को जीव इसने नहीं जाना है। गड़बड़ की है, ईधर से ऊधर और ऊधर से ईधर। जानने-देखने के स्वरूप को विकारवाला माना और विकार से आत्मा को लाभ होता है ऐसा माना है। अजीव की क्रिया जीव करता है - ऐसा माना है। जीव, अजीव की क्रिया करे, जानना-देखना नहीं परन्तु अजीव की चलना-बोलना आदि (क्रिया करे - ऐसा माना है।) ऐसा चैतन्य तत्त्व को जानने-देखने के स्वरूप से न मानकर विपरीत मान्यता की, उसका नाम मिथ्यादर्शन शल्य कहा जाता है। आहा...हा...! समझ में आया ? है या नहीं पुस्तक ? ऐ... ई...! है ? उसमें लिखा है ? यह क्या कहा ?

'चेतन को रूप उपयोगरूप' कहा ? लो ! भाई ने क्या कहा ? '**चेतन को है उपयोगरूप, चेतन को है उपयोगरूप, बिनमूरत चिनमूरत अनूप।**' बिनमूर्ति अरूपी है वह तो; उसके रंग, गन्ध, स्पर्श (नहीं है।) बिनमूरति (अर्थात्) उसमें रंग, गन्ध कहाँ है ? यह धूल का रंग है। वह तो अरूपी है और चिन्मूरति है। बिनमूरति और चिनमूरति। बिनमूरति (अर्थात्) वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श रहित की भी चिनमूरति है। वह तो भगवान ज्ञान का तेज है, अकेले ज्ञान के प्रकाश का चन्द्र है। ज्ञान-दर्शन का पिण्ड भगवान आत्मा है। उसे भगवान ने आत्मा कहा है। उसे काम सोंपना, विकार के और पर के काम सोंपना, (वह) मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान है - ऐसा कहते हैं। कहो भाई ! यह समझ में आता है या नहीं ? (पुस्तक) है न हाथ में ? हेड मास्टर है। आहा...हा...! क्या कहते हैं ? देखो !

भगवान आत्मा जानना-देखना अर्थात् ज्ञाता-दृष्टा का पिण्ड है। उसमें आनन्द आदि सब है, परन्तु यह मुख्य गुण है न ? उपयोग लेना है न ? उपयोग लेना है। उपयोग अर्थात् जानना और देखना, बस ! यह जानना-देखना भगवान आत्मा का लक्षण अनादि-अनन्त भगवान न देखा है। 'उवओग लक्षणो निश्चम्' भगवान आत्मा को भगवान सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ परमेश्वर तीर्थंकरदेव ने जानने-देखने के उपयोग स्वरूप से भगवान आत्मा को देखा है। उसे आत्मा कहते है। इसके अतिरिक्त दूसरे प्रकार से आत्मा के लिए मानना (अर्थात्) शरीरवाला और कर्मवाला और अमुकवाला और सुखी दुःखी मानना और राजा-रंक (मानना) सब मिथ्यादर्शन शल्य है। यह आयेगा, यह बाद में आयेगा। चौथी (गाथा में) आयेगा समझ में आया ?

विपर्य श्रद्धा की बात है न ? देखो न, क्या कहा ? '**सरधैं तिनमांहि विपर्यत्व।**' इन नव तत्त्वो में विपरीतरूप मानना, उसे भगवान अगृहीत मिथ्यात्व अनादि की उल्टी मान्यता कहते हैं। अब इसमें तो दीपक जैसी बात है, इसमें कुछ सीखने का (या) बहुत लम्बे पड़खे की बात नहीं है। ऐसे जो नवतत्त्व है, उन्हें विपर्यत्व - विपरीतरूप से श्रद्धा करे; जैसे है वैसे न माने, उससे उल्टा माने। आत्मा ज्ञानस्वरूप-जानना-देखना, उसे न माने; उसे रागवाला माने, पुण्यवाला माने, कर्मवाला माने, शरीरवाला माने। वे तो भित तत्त्व हैं। यह मिथ्याश्रद्धा है। अजीव को आत्मा का कार्य करता माने। अजीव अपने आप नहीं कर सकता (ऐसा माने)। अजीव में कहाँ शक्ति है ? शरीर, वाणी जड़-मिट्टी है, उसमें शक्ति है ? वह तो आत्मा होवे तो उन्हें हिला सकता है। इस तरह मूढ़ अजीव की शक्ति को नहीं मानता। वह अजीवतत्त्व जड़ है। हिले-चले, वह जड़ के कारण है; आत्मा-फात्मा नहीं हिलाता। अजीव अर्थात् जड़। उसमें कहाँ शक्ति (है) ? उसमें अनन्त शक्ति है। आहा...हा...!

अजीव, तत्त्व है। अजीव कहीं अवस्तु नहीं है। एक-एक रजकण में अनन्त-अनन्त गुण हैं। एक-एक पोईन्ट, यह तो बहुत रजकण (का पिण्ड है।) यह कहाँ मूल चीज़ है ? बहुत रजकण इकट्ठे होकर हुआ है। भगवान ने तो इसका अन्तिम, अन्तिम, अन्तिम टुकड़ा। उस एक-एक परमाणु में अनन्त गुण हैं। रूपी-रंग, गन्ध, स्पर्शवाले अनन्त गुण हैं, उसमें जड़ में। उसके कारण से गति करता है और उसके कारण से स्थिर होता है और उसके कारण से वर्गान्तर होता है - ऐसी

उसमें शक्ति है। ऐसा अजीवतत्त्व को ऐसा न मानकर, आत्मा उसका कुछ करदे - ऐसा मानना, वह मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्याश्रद्धा में मानता है।

मुमुक्षु :- भगवान ने दी है।

उत्तर :- भगवानने जाना है, दे कौन ? भगवान ने कहा है कि जितने गुण तुझ में है... पहले कहा नहीं था ? आकाश सर्व व्यापक है न ? आकाश है या नहीं ? भगवान ने देखे हुए छह द्रव्य है या नहीं ? धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश, काल, जीव और पुद्गल। उनमें आकाश सर्वव्यापक है न ? ऐसा और ऐसा चला है न ? यह चौदह ब्रह्माण्ड तो थोड़ा है। चौदह राजू लोक तो असंख्य योजन में है, परन्तु खाली भाग है न ? अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त चला जाता है, उसे भगवान आकाश कहते हैं, आकाश। फिर कहीं (पूरा) हो रहता है ? आकाश कहीं किसी दिशा में हो रहता है ? अमाप... अमाप... अमाप... अमाप... कहीं मर्यादा नहीं आती। उसके एक-एक पोईन्ट का रजकण रखो तो एक प्रदेश कहलाता है। इतने अधिक प्रदेशों की संख्या से भी एक जीव में अनन्तगुने गुण हैं। इतने ही अनन्त गुण उस परमाणुं में है। सुना है या नहीं कभी इसने ?

यह आकाश नामक पदार्थ ऐसा का ऐसा अव्यापक अर्थात् व्यापक कहीं नहीं रूकता, न मर्यादा रहती, अमर्यादित ऐसा का ऐसा चला ही गया, चला ही गया। उसके जितने प्रदेश हैं, उससे तुलना में एक रजकण में अनन्तगुने गुण हैं। एक रजकण, हाँ ! पोईन्ट ! ऐसा भगवान त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ तीर्थंकरदेव ने जाना और कहा है। जाना वैसा कहा और कहा वैसा है। भगवान ने कहाँ किया था ? किया है भगवान ने ? भगवान कुछ कर्ता-धर्ता नहीं है। समझ में आया ? उस अजीव में शक्ति नहीं है - ऐसा मानता है। अपने आप शरीर चलता है ? अपने आप वाणी निकलती है ? अपने आप निकलती है। तुझे भान नहीं है, यह कहते हैं। उसमें विपर्यय श्रद्धा करता है। समझ में आया ?

चैतन्यमय आत्मा अमूर्तिक है। देखो ! एक तो ज्ञानदर्शन कहा। '**(विनमूरत)**' अर्थात् '**अमूर्तिक...**' उसमें कोई रंग, गन्ध, रस, स्पर्श भगवान आत्मा में नहीं है, वह तो अरूपी है। '**(चिन्मूरत) चैतन्यमय...**' है। चैतन्य ज्ञानदर्शनमय भगवान आत्मा है और '**(अनूप)...**'

है (अर्थात्) '**उपमारहित है।**' चैतन्यमय है न ? अभेद हो गया न ? ज्ञानदर्शनमय है। अकेले ज्ञाता-दृष्टा के स्वभाव से भरा हुआ और अनूप (अर्थात्) उसे कोई ऊपमा नहीं। क्या ऊपमा देना ? वह चीज़ ही महान पदार्थ है। सर्वज्ञ स्वभावी भगवान, जिसमें सर्वज्ञस्वभाव अनादि का पड़ा है; सर्वदर्शीस्वभाव अनादि का पड़ा है। यह कहा न ज्ञानदर्शन ? अनादि का अन्दर सर्वज्ञ, सर्वदर्शी शक्तिरूप से पूरा स्वभाव पड़ा है। उसे क्या ऊपमा देना ? ओ...हो...हो...! इस भगवान आत्मा को किसकी ऊपमा देना ? ऐसी महान चीज़ ! जो रजकण में न हो, कर्म में न हो, शरीर में न हो, पुण्य-पाप के भाव में वह चीज़ नहीं। ऐसी वह चीज़ स्वयं वर्तमान, हाँ ! अरूपी, चिन्मूरति, अमूर्तिक, चिन्मूरति, ऊपमारहित। अरे...! इसने आत्मा को सुना नहीं कि आत्मा कैसा है ? है ?

मुमुक्षु :- ऊपमा देकर (समझाओ।)

उत्तर :- उसे ऊपमा किसकी देना ? यह इसके जैसा ! इसे रूपी की ऊपमा किस प्रकार देना ? अनुपम पदार्थ, अलौकिक पदार्थ... किसकी देना ? कहो ! घी का स्वाद चखा है या नहीं ? घी का स्वाद चखा है या नहीं ? तुम्हें तो पहले से ही मिला होगा ? घर में भेंसे थी। हैं ?

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- परन्तु उसे पता पड़े तो ऊपमा देकर बताओ। घी का स्वाद ऊपमा देकर बताओ।

मुमुक्षु :- वह तो खाकर बतायें।

उत्तर :- यह तो खाकर हुआ। यह तो जानकर हुआ। ऊपमा देकर बताओ - मैंने तो ऐसा कहा है। घी का स्वाद तुम्हारे ख्याल में है, ऊपमा देकर बताओ। किसी पदार्थ के साथ ऊपमा देकर बताओ। तुमने तो घर में भेंस का घी खाया है। हैं ? इनके घर तो भेंसे -भैंसे थी। इनके पिताजी को थी न ? इनके पिता के पिता भी (थे), घरठीक था (समझ में आया ?) ऐ।..ई...! भाई ! ... घर में रखते होंगे या नहीं पहले ? हैं ? रखते थे न ? बड़ा घर था वहाँ। कहो, समझ में आया ? क्या कहते है ? लाओ,बताओ, घी का स्वाद बताओ। लाओ, किसी पदार्थ की ऊपमा। शक्कर जैसा ? गुड़ जैसा ? कैला जैसा ? ... जैसा ? नहीं आते ? तालाब में होते हैं। कैसा ? अरे...! जिसे जड़ की ऊपमा ख्याल में होने पर भी दी नहीं जा सकती। यह तो भगवान आत्मा,

इसे क्या ऊपमां देना ? ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! समझ में आया ? होशियार डॉक्टर घी की ऊपमा दे सकता है या नहीं ? नहीं ?

मुमुक्षु :- वह तो इंजेक्शन देता है।

उत्तर :- धूल भी इंजेक्शन नहीं देता, राग कर सकता है। यहाँ तो भगवान कहते हैं, राग कर सकता है। इंजेक्शन तो जड़ की क्रिया है। अरे..! कहाँ की कहाँ बाते ? तत्त्व का पता नहीं चलता, श्रद्धा विपरीत और माने कि हम कुछ धर्म करते हैं। कहते हैं, '**(अनूप) ऊपमारहित है।**

भावार्थ :- यथार्थरूप से शुद्धात्मदृष्टि द्वारा...' स्पष्टीकरण किया है। अर्थात् शुद्धात्मज्ञान क्या, उस द्वारा जीव को जानना, उस द्वारा अजीव को जानना। वह अजीव मुझसे भित है, ऐसा। आस्रव को जानना। पुण्य-पाप का भाव शुद्धात्मदृष्टि से जानना कि वह आस्रव पुण्य-पाप का भाव है, वह मुझ में नहीं है, परन्तु जानना ऐसा। बन्ध (अर्थात्) अटका हुआ अथवा जड़का बन्ध। संवर-निर्जरा कहे वह, शुद्धात्म दृष्टि द्वारा शुद्धपर्याय निर्मल होवे, रागरहित, पुण्य-पाप रहित शुद्धता का नाम संवर है और शुद्धात्मदृष्टि द्वारा निर्जरा-शुद्धि होवे, उसका नाम निर्जरा है और पूर्ण मोक्ष शुद्धात्मदृष्टि द्वारा इन सात तत्त्वों की श्रद्धा करने से सम्यग्दर्शन होता है। कहो, समझ में आया ?

शुद्धस्वरूप ज्ञायक मूर्ति की दृष्टि द्वारा, फिर आस्रव-बन्ध यह तो विकारी पर्याय है; संवर-निर्जरा-मोक्ष, यह निर्विकारी (पर्याय) है। यह द्रव्य का ज्ञान होवे तो इन निर्विकारी विकारी पर्याय का ज्ञान होता है। समझ में आया ? फिर यह क्या ? शुद्धात्म दृष्टि द्वारा (अर्थात् क्या) ? अद्भुतता लगती है। वीतराग की वाणी प्रथम ही मुद्दे की पहली रकम की है, परन्तु कभी सुनी नहीं है।

शुद्धात्म दृष्टि - आत्मा ज्ञान, चैतन्यरूप अनूप आनन्दकन्द है। ऐसी अन्तर में सम्यग्दृष्टि द्वारा अजीव को भिन्न जानना, पुण्य-पाप के भाव को विकारी भिन्न जानना और संवर-निर्जरा को अपनी शुद्ध, इनसे भिन्न अपनी निर्मल पर्याय हुई, वह अभेद जानना। पूर्ण निर्मल पर्याय को मुक्ति जानना। इस प्रकार यथार्थ जाने, उसे सम्यग्दर्शन होता है और सम्यग्दर्शन कहा जाता है। पहले सम्यग्दर्शन की यह व्याख्या सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान नहीं होता और सम्यग्ज्ञान के

बिना चारित्र या व्रत-तप नहीं। कोरे कागज़ पर सब शून्य है। समझ में आया ?

इसलिए इन सात द्रव्यों को जानना आवश्यक है। वहाँ मतलब के कहा था न ? मतलब के कहो, प्रयोजनभूत कहो, उपयोगी कहो, काम के कहो या जरूरत के कहो। '**सातों तत्त्वों का विपरीत श्रद्धान करना, उसे अगहीत मिथ्यादर्शन कहते हैं।**' ऐसी मान्यता बतलायी। इस सत्य से विपरीत (मान्यता) करना, वह अनादि का अगृहीत मिथ्यादृष्टि जीव कहा जाता है।

'**जीव ज्ञान-दर्शन उपयोग स्वरूप अर्थात् ज्ञाता-दृष्टा है...**' लो ! पहली जीव की व्याख्या की, हाँ ! फिर अजीव की करेंगे। स्वयं एक-एक की व्याख्या करेंगे। '**जीव ज्ञान-दर्शन उपयोग स्वरूप अर्थात् ज्ञाता-दृष्टा है...**' भगवान तो आँखे - चैतन्यदृष्टा, ज्ञान-दर्शन उसकी आँख है। उसमें पुण्य-पाप का भाव, वह कोई उसके स्वरूप नहीं है, वह तो विकल्प, बढ़े हुए नाखून है। समझ में आया ? वह आत्मा का स्वरूप नहीं है। शरीरादि पर है।

'**अमूर्तिक चैतन्यमय...**' है, अभेद है। भगवान आत्मा ज्ञान-दर्शनमय अभेद है। शक्कर जैसे सफेद और मिठासमय है; वैसे ही भगवान आत्मा जानने-देखने के ज्ञानदर्शन के स्वभावमय है। आहा...हा...! मात्र एक व्याख्या की जीव की। चेतनरूप, विनमूरति, अमूर्त, अनूप।

जीवतत्त्व के विषयमें मिथ्यात्व (विपरीत श्रद्धा)

पुद्गल नभ धर्म अधर्म काल, इनतैं न्यारी है जीव चाल,
ताकों न जान विपरीत मान, करि करै देहमें निज पिछान।।३।।

अन्वयार्थ :- (पुद्गल) पुद्गल (नभ) आकाश (धर्म) धर्म (अधर्म) अधर्म (काल) काल (इनतैं) इनसे (जीव चाल) जीव का स्वभाव अथवा परिणाम (न्यारी) भिन्न (है) है; [तथापि मिथ्यादृष्टि जीव] (ताकों) उस स्वभाव को (न जान) नहीं जानता और (विपरीत) विपरीत (मान करि) मानकर (देहमें) शरीर में (निज) आत्माकी (पिछान) पहिचान (करे) करता है।

भावार्थ :- पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल-यह पाँच अजीव द्रव्य है। जीव त्रिकाल ज्ञानस्वभाव तथा पुद्गलादि द्रव्यों से पृथक् है, किन्तु मिथ्यादृष्टि जीव आत्मा के स्वभावकी यथार्थ श्रद्धा न करके अज्ञानवश विपरीत मानकर; शरीर ही मैं हूँ, शरीरके कार्य मैं कर सकता हूँ, मैं अपनी इच्छानुसार शरीर की व्यवस्था रख सकता हूँ - ऐसा मानकर शरीरको ही आत्मा मानता है। [यह जीवतत्त्व की विपरीत श्रद्धा है।]।।३।।

'जीवतत्त्व के विषय में मिथ्यात्व (विपरित श्रद्धा)।'

पुद्गल नभ धर्म अधर्म काल, इनतैं न्यारी है जीव चाल,
ताकों न जान विपरीत मान, करि करै देहमें निज पिछान।।३।।

इस जीवतत्त्व में मिथ्यादृष्टि का मित्यात्वभाव (कहते हैं।) यह '**पुद्गल...**' यह शरीर, वाणी, कर्म ये पुद्गल हैं, यह मिट्टी, धूल है। समझ में आया ? इससे भगवान जीव की चाल अर्थात् उपयोग - ज्ञान-दर्शन भिन्न है। ऐसा न मानकर शरीर मेरा और इसकी क्रिया मेरी - (ऐसा माने) वह मिथ्यादृष्टि जीव है। यह जीव की विपरीत मान्यता है। पुद्गल शरीर, कर्म, पैसा, स्त्री, पुत्र, सब - यह देहादि, हाँ ! उनका आत्मा अन्दर अलग है। यह सब दिखता है, धूल, एक-एक धूल जितनी यह सब है, उस पुद्गल को अपना मानना, कहो समझ में आया ? इस जीव के स्वभाव और परिणाम से वह जाति भिन्न है। क्या कहा ?

'**इनतै न्यारी है जीव चाल;**' शरीर, कर्म की दशा से जीव की चाल अर्थात् उपयोग ही अलग प्रकार का है। आहा...हा...! चाल ली है, जीव की चाल। यह उसका उपयोग ही अलग प्रकार की गति का है, कहते हैं। आहा...हा...! जानने-देखने का उपयोग उससे-जीव के परिणाम से वह भिन्न चीज है। यह शरीर वाणी, कर्म जड़ मिट्टी यह भिन्न है, उसे अपना मानना, अथवा उसकी जो क्रिया होती है उसकी पर्याय को अपना मानना इसका नाम मिथ्यादृष्टि, जीव के विषय में उसे मिथ्यात्व है। जीव की श्रद्धा का ज्ञान नहीं है। कहो, समझ में आया ?

मुमुक्षु :- गरज़ नहीं की।

उत्तर :- तुमने ऐसी गरज़ नहीं की। बात सत्य है। बात तो स्वयं इसने गरज नहीं की ! ऐसा कहा न ? स्वयं से भटकता है न ? स्वयं भूल की है न ?

मुमुक्षु :- दूसरा क्या करे ?

उत्तर :- नहीं, नहीं, नहीं, यह बात नहीं। स्वयं कहा था न पहले ? मिथ्यादर्शन के वश (होकर) दुःखी (होता है।) और परिभ्रमण करता है, ऐसा कहा था। उसे सत्य सुनने को नहीं मिला था, इसलिए परिभ्रमण करता है - ऐसा नहीं कहा था।

मुमुक्षु :- कर्मने किया है।

उत्तर :- यह तो बात ही नहीं है। जड़ तो क्या करे बिचारा ? 'कर्म बिचारै कौन भूल मेरी अधिकाई' - जड़ बिचारा कौन ? मिट्टी, उसे तो पता ही नहीं है कि हम जगत की चीज़ है या नहीं ? उसे कब पता होगा कि हम शरीर हैं ! बिचारा मिट्टी जड़ है, उसे तो यह ज्ञान जानता है कि यह जड़ है। उसे तो पता ही नहीं कि हम कौन हैं ? कर्म-ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय मिट्टी जड़ रजकण धूल है। उसे तो पता ही नहीं है कि हम कर्म हैं, या हम रूपी है या रजकण हैं ? ज्ञान उन्हें जानता है कि यह रूपी रजकण जड़ मिट्टी है। आहा...हा...! अद्भुत किन्तु मण में आठ पसेरी की भूल की है न ! कहते हैं पूरी-पूरी (भूल की है।)

जीव की चाल इस पुद्गल से अलग है। उसे कहते है कि नहीं, नहीं; मेरी चाल उसके कारण है अथवा वह मेरे कारण चलता है, यह सब अजीव मेरे कारण चलते हैं, बोलते हैं। देखो ! वर्ण बदलता है, ऐसा होता है, निवाला लेते हैं, दाल-भात लेते हैं, सब्जी लेते हैं, पानी पीते हैं - यह सब हम करते हैं... परन्तु इस जड़ की क्रिया से इसकी (जीवकी) चाल अलग है। यह तो जानने-देखनेवाला है। यह क्रिया आत्मा की कहाँ से आयी ?

मुमुक्षु :- मानता है न ?

उत्तर :- यह ऐसा ही मानता है न ! न माने तो इसका मिथ्यात्व टिके कैसे ? अनादि से मिथ्यादृष्टि रहा है। अनन्त बार त्यागी हुआ, परन्तु मिथ्यादर्शन क्या कहलाता है - इसका ज्ञान इसने नहीं किया। उसमें बाहर में क्या है ? वह तो अनन्त बार हुआ। समझ में आया कुछ ?

यहाँ तो कहते हैं, पाँच से जीव का उपयोग और परिणाम अलग है, ऐसा कहना है। शरीर में या कर्म में आत्मा नहीं है, पुण्य-पाप में आत्मा नहीं है। '**(तथापि मिथ्यादृष्टि जीव) उस आत्मस्वभाव को नहीं जानता...**' यह पुण्य-पाप का राग और शरीर, वाणी, मन और यह धर्मास्ति, अधर्मास्ति तत्त्व, इनसे पृथक् हूँ - ऐसा नहीं जानता। पृथक् जानने का/ भेदज्ञान का प्रयत्न कभी नहीं किया।

मुमुक्षु :- कहने में तो...

उत्तर :- कहना क्या ? वह तो जड़ की पर्याय है। भाषा जड़की अवस्था है; आत्मा कहाँ बोलता है ? कठिन बात है, भाई ! आहा...हा...!

'**(तथापि मिथ्यादृष्टि जीव) उस आत्मस्वभाव को नहीं जानता...**' इन सब से पृथक् चीज़ है, परन्तु पृथक् नहीं जानता। परस्पर, परस्पर ... जैसे छलाछल हो गया। शरीर अच्छा तो मैं अच्छा; शरीर ठीक नहीं तो मुझे ठीक नहीं; उसे रोग आवे तो मैं रोगी हो गया, उसे निरोगता होवे तो मैं निरोगी हो गया। मूढ़, वह मूढ़ है। कहे कि शरीर की क्रिया ठीक होवे तो मुझे ठीक; अठीक होवे तो मुझे अठीक। इस प्रकार यह शरीर की चाल से जीव की चाल पृथक् है - ऐसा नहीं जानता। आहा...हा...! भाषा भी कैसी की है ! काल चाल, आता है, नहीं ? भाई ! काल चाल आता है। वह द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव, 'बनारसीदास'में नहीं ? काल चाल आता है। काल को चाल कहा है। वहाँ काल को चाल कहा है। द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव लिया है। सत्य बात है।

कहते हैं, भगवान आत्मा, ये पाँच द्रव्य जितने हैं - धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश, काल और पुद्गल, इनसे उत्पन्न पृथक् (है।) पुद्गल का एक रजकण से रजकण पृथक् है - ऐसा पृथक् स्वरूप है - ऐसा ज्ञान इसने नहीं किया है। '**उल्टा मानकर...**' विपरीत मानकर, '**शरीर में आत्मा की पहिचान कराता है।**' लो ! यह शरीर की क्रिया में; और यह मैं और यह मैं - ऐसा मानता है, इसका नाम मिथ्यादृष्टि अज्ञानी कहा जाता है। इसने अनादि का यह मिथ्यादर्शन पकड़ा है, इसने छोड़ा नहीं; इसलिए भटक रहा है। इसकी व्याख्या करेंगे।

(श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)